नवउदारवादियों की जीत के साढ़े तीन दशक

प्रेम सिंह

1

भारत में पिछले करीब साढ़े तीन दशकों की नवउदारवाद/निजीकरणवाद की यात्रा पर नजर डालें तो पाते हैं कि बाजी पूरी तरह नवउदारवादियों के हाथ रही है। अब बिना किंतु-परंतु के यह कहा जा सकता है कि भारत में सर्वसम्मति से निगमों का राज चलता है (संविधान का नहीं; संविधान महज कलही बहस की वस्तु रह गया है)। मोदी-मंडली कहती भी है कि वे व्यवस्था का निजीकरण नहीं, निगमीकरण (कारपोरेटाइजेशन) कर रहे हैं। अर्थात नवउदारवाद/निजीकरणवाद की परिणति निगमवाद में हुई है। नया भारत निगम भारत है।

इस विषय पर आगे चर्चा करने से पहले भारत में नवउदारवाद की यात्रा की संक्षिप्त इतिहास-रेखा को देख लेना मुनासिब होगा। पीवी नरसिंह राव-डॉ मनमोहन सिंह की जोड़ी ने 1991 में नई आर्थिक नीतियों के नाम से इसकी बुनियाद रखी थी; और फिर सहजता से बैटन वाजपेयी-आडवाणी को थमा दिया था। उन्होंने कुशलता और सफलता से कारपोरेट कर्तव्य-पथ पर दौड़ते हुए बैटन सोनिया गांधी-डॉ मनमोहन सिंह को थमाया। सोनिया गांधी-डॉ मनमोहन सिंह के सलाहकार भी दौड़ में उनके साथ-साथ दौड़ते थे; यह बताने के लिए कि नए कर्तव्य-पथ पर इस तरह दौड़ना है कि बाहर फेंके गए लोगों को लगे कि नए बन रहे निगम भारत में उनके लिए भी जगह है।

आगे की कहानी ज्यादा पुरानी नहीं है। अलबत्ता अप्रिय जरूर कही जाएगी। इसे निगम लोक की माया कहा जाएगा कि सलाहकारों ने ही सोनिया गांधी-मनमोहन सिंह से बैटन छीन कर नरेंद्र मोदी को पकड़ा दिया। हर व्यवस्था की अपनी गतिकी (डायनामिक्स) होती है। नवउदारवादी व्यवस्था की भी रही है। व्यवस्थाएं यह जानती होती हैं कि कब किसे किस रूप में अपने पक्ष में शामिल अथवा इस्तेमाल कर लेना है। नवउदारवादी व्यवस्था ने भारत के प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष खेमे को अपने पक्ष में शामिल/इस्तेमाल किया और आज तक कर रही है। इसके लिए कुछ जमीन 2004 में मुंबई में आयोजित विश्व समाज मंच (वर्ल्ड सोशल फोरम) के चौथे सम्मेलन ने तैयार कर दी थी। बाद में चल कर 'एनजीओ फेयर' के नाम से मशहूर हुए विश्व समाज मंच का गठन 2001 में ब्राजील में वैश्विक पूंजीवाद अथवा भूमंडलीकरण/नवउदारीकरण की ताकतों/व्यवस्था के खिलाफ ऐसे गैर-सरकारी संगठनों, सिविल सोसाइटी ऐक्टिविस्टटों और बुद्धिजीवियों ने किया था जो खुद उसी व्यवस्था के धन पर आश्रित थे। 2007 में ऐसे ही कुछ तत्वों के गठजोड़ से 'भ्रष्टाचार के विरुद्ध भारत' (इंडिया अगेंस्ट करप्शन) बना; उसके तत्वावधान में 2011 में 'भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन' हुआ; और देखते-देखते नवउदारवाद की निर्णायक जीत का फैसला हो गया। भारतीयों के लंबे संघर्ष और कुर्बानियों के बाद उपनिवेशवादी गुलामी से आजाद हुआ भारत नवसाम्राज्यवादी तंत्र का अभिन्न हिस्सा बन गया।

प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष कर्ताओं ने दांव 'छोटे मोदी' पर लगाया था, लेकिन दांव 'बड़े मोदी' का चल गया। कुछ समय तक प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष कर्ताओं ने मुगालता पाला कि उनकी योजना के बाहर हुई यह अचानक घटना विचलन-मात्र (मियर्ली एन एबेरेशन) है, जिसे वे जल्दी ही ठीक कर देंगे। वे छोटे मोदी के साथ अजीब और आश्चर्यजनक रूप से एकजुट हो गए। इस सच्चाई को दरकिनार करके कि नवउदारवादी व्यवस्था अपने में एक भ्रष्ट और बेईमान व्यवस्था है, उन्होंने झूठ यह चलाया कि मनमोहन सिंह भ्रष्ट और बेईमान हैं। उनमें कुछ तो यहां तक दावा करने लगे थे कि भ्रष्ट कांग्रेस के हटने पर वे सीधे छोटे मोदी को प्रधानमंत्री बना देंगें। खास कर सरकारी कम्युनिस्टों और सरकारी बनने के इच्छुक सोशलिस्टों का उत्साह देखने लायक था। ड्रामा होता है तो उत्साह आ ही जाता है। उनका नायक दिल्ली के मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा देकर नरेंद्र मोदी को हराने के लिए बनारस पहुंचा तो सलाहकार भी प्रचार के लिए पहुंच गए। बड़े मोदी को गंगा मां ने पुकारा था। छोटे मोदी ने भी परचा दाखिल करने से पहले मीडिया की पूर्ण निगरानी में गंगा मैया में डुबकी लगाई। आज के गोदी और प्रतिरोधी कहे जाने वाले दोनों मीडिया सम्मिलित रूप से उस डुबकी का लाइव प्रसारण कर रहे थे। इस तरह भारतीय राजनीति का निगम-सांप्रदायिक गठजोड़ (कॉरपोरेट-कम्यूनल नेक्सस) पूर्ण पवित्र हो गया!

लेकिन नरेंद्र मोदी ने विचलन को ही नियम बना दिया। हालांकि, इसमें मोदी का कोई बड़ा कमाल नहीं था। मूलभूत विचलन 1991 में हो चुका था, जब देश की अर्थव्यवस्था को संविधान और स्वतंत्रता आंदोलन के मूल्यों की धुरी से उतार कर वैश्विक आर्थिक संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की धुरी पर रख दिया गया था। मोदी ने बस देश के संविधान, संसाधनों और श्रम को निर्णायक रूप से देशी-विदेशी कारपोरेट ताकतों का ताबेदार बना दिया। यह ताबेदारी स्थायी बनी रहे, और देश की जनता निगम-राज के खिलाफ एकजुट न हो सके, इसके लिए एक तरफ समाज में सांप्रदायिक/जातिवादी/कबीलाई घृणा फैलाने, और दूसरी तरफ नकद खैरात बांटने की रवायत शुरू कर दी। चुनावी विपक्ष और ज्यादातर बौद्धिक वर्ग/नागरिक समाज मोदी को कोसते हुए मोदी द्वारा निर्धारित और निर्देशित रास्ते पर ही अपने नारों-झंडों समेत दौड़ने की कवायद करने लगा।

आप कहेंगे इस कहानी में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) का जिक्र अभी तक नहीं आया। वाजपेयी काल तक आरएसएस कारपोरेट गुलामी में कुछ हिचक का अनुभव करता था। उसे शायद लगता था, या लगना चाहिए था कि स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान की गई उपनिवेशवादी गुलामी के समर्थन का दाग नवसाम्राज्यवादी गुलामी का विरोध करके धोया जा सकता है। लेकिन आरएसएस ने जैसे ही परम शक्ति (एब्सोल्यूट पावर) का स्वाद चखा, वह परम गुलामी (एब्सोल्यूट स्लेवरी) की मस्ती में डूब गया। नाना प्रकार के 'संघ विचारक' भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के मूल्यों, प्रसंगों और अनुप्रतीकों को बदनाम और विकृत (डिस्क्रेडिट एण्ड डिस्टॉर्ट) करने के अभियान में जुट गए। आरएसएस ने गद्गद् भाव से स्वीकार कर लिया कि मोदी-मंडली द्वारा राष्ट्रीय संसाधनों की बिकवाली, उधारी की विदेशी पूंजी और तीसरे-चौथे दर्जे की डिजिटल टेक्नॉलॉजी से बनाया जाने वाला "आत्मनिर्भर भारत" ही उसका 'स्वदेशी भारत' है। जैसे शादी का उमांह होता है, वैसे ही उमांह से भरा आरएसएस नवसाम्राज्यवादी गुलामी का हरावल दस्ता बना हुआ है। मजेदारी यह है कि राजनीतिक शक्ति के बल पर वह देशभक्ति, वीरता, संस्कार और वि-उपनिवेशवादी ज्ञान (डिकॉलोनाइज्ड माइंड) के प्रमाणपत्र भी बांटता चलता है!

बहरहाल, 2010-11 में नवउदारवाद की यात्रा में एक महत्वपूर्ण मोड़ आता है। दो दशकों से चले आ रहे नवउदारवाद-विरोध के संघर्ष को नष्ट-भ्रष्ट कर राजनीतिक और बौद्धिक इलीट में नवउदारवाद पर मतैक्य (कंसेंसस) हो जाता है। इसके पहले कहा जाता था कि देश पर नवसाम्राज्यवादी शिकंजा कसता जा रहा है। 2010-11 के बाद से भारत को नवसाम्राज्यवादी तंत्र का अभिन्न अंग स्वीकार कर लिया जाता है। अब किसी नवउदारवादी को पहले की तरह प्रछन्न रहने की जरूरत नहीं रह गई थी। वे सब खुल कर नवउदारवाद के खुले समर्थकों के साथ आ गए - चाहे वे सेकुलर खेमे में हों या सांप्रदायिक खेमे में। सेकुलर खेमे के नवउदारवादी यह दम भरते नजर आते थे कि वे नवउदारवाद की नसों में प्रवाहित सांप्रदायिक फासीवाद का जहर खींच कर बाहर निकाल देंगे। लेकिन वे सब विपक्ष की सांप्रदायिक/जातिवादी/परिवारवादी राजनीति पर चुप्पी साध कर बैठे रहने लगे। ऐसा करते हुए उन्होंने जान-बूझ कर वैकल्पिक राजनीति के लिए कुछ जगह बनने की संभावनाओं को अवरुद्ध कर दिया।

नवउदारवाद पर सर्वसम्मति की एक बानगी संसद में संविधान पर चली कलही बहस, और पूर्व प्रधानमंत्री डॉ मनमोहन सिंह के निधन पर उनके अवदान पर व्यक्त किए गए उद्गारों और विचारों में देखी जा सकती है। एक भी सांसद, स्तंभकार अथवा संपादकीय ने यह सवाल नहीं उठाया कि 1991 में लागू की गईं नई आर्थिक नीतियां संविधान के मूलभूत सरंचना सिद्धांत (बेसिक स्ट्रक्चर डॉक्टरिन ऑफ कॉन्स्टीट्युशन) के उलट फैसला था; कि विविध संवैधानिक प्रावधान विधायिका-कार्यपालिका-न्यायपालिका से संबद्ध संस्थाएं भारत में पूंजीवादी व्यवस्था कायम करने के उद्देश्य से नहीं बनाए गए थे। सेकुलर-प्रगतिशील खेमा मोदी सरकार द्वारा संवैधानिक लोकतांत्रिक संस्थाओं के अवमूल्यन और दुरुपयोग की शिकायत और विरोध करते वक्त यह नहीं देख पाता कि ये संस्थाएं एक विकृत किस्म की निगम पूंजीवादी व्यवस्था बनाने और चलाने के लिए नहीं बनाई गई थीं। वे एक समतामूलक समाज और धर्मनिरपेक्ष राज्य कायम करने के संवैधानिक उद्देश्य की सहायक थीं, न कि विषमतामूलक समाज और सांप्रदायिक फासीवादी राज्य/राजनीति की।

जो निगम भारत सामने है उसमें नागरिक चेतना का कोई दखल नजर नहीं आता। भारत को समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए भारतीयों में नागरिक चेतना के विकास का अनिवार्य उद्यम किया जाना था। केवल चुनाव करा लेने और सरकारें बना लेने से वह नहीं हो सकता था। एक विशाल, परंपरागत और बहुल समाज में आधुनिक नागरिक चेतना अथवा नागरिक बोध (स्पिरिट/सेंस ऑफ सिटिजनशिप) का विकास सरोकारधर्मी नेताओं और बुद्धिजीवियों के सामूहिक प्रयास से ही हो सकता था। इसके जो भी कारण रहे हों, आजादी के साथ और बाद ऐसा नहीं हुआ। आज देश में राजानीति में ही नहीं, समाज में भी सांप्रदायिकता का सैलाब उफन कर बह रहा है। धर्म और जाति आधारित पहचानों के घटाटोप में भारतीयों की नागरिक पहचान जैसे खत्म होती जा रही है। नागरिक चेतना के विकास के छूटे कार्यभार के सिरे को फिर से पकड़ने की गंभीर कोशिश भी दिखाई नहीं देती। मानो नवसाम्राज्यवादी जुए के नीचे निगम-सांप्रदायिक गठजोड़ ही भारत की नियति हो।

नई आर्थिक नीतियों को लागू कर भारत की अर्थव्यवस्था को वैश्विक वित्त पूंजीवाद का मातहत बनाने का "ऐतिहासिक" "साहसिक" और "संकट हरण" फैसला लेते वक्त डॉ मनमोहन सिंह ने चुनौती फेंकी थी कि 'कोई और विकल्प है तो बताओ'! यह प्रचार किया गया, जो आज तक थमा नहीं है, कि 1991 में देश गहरे आर्थिक संकट में फंस गया था, और उसकी अर्थव्यवस्था डूबने के कगार पर थी। भला हो नरसिम्हा राव और डॉ मनमोहन सिंह का कि उन्होंने देश की डूबती नैया को बचा लिया। लेकिन कोई नेता, अर्थशास्त्री, रिजर्व बैंक का गवर्नर, प्रधानमंत्रियों/सरकारों के सलाहकार अर्थशास्त्री और प्रगतिशील बुद्धिजीवी यह नहीं बताते कि वह आर्थिक संकट भारत की कौन-सी और कितनी आबादी पर आयद हुआ था? क्या वह प्रतिदिन कुआं खोद कर पानी पीने वाले असंगठित क्षेत्र के दिहाड़ी/ठेका मजदूरों, कारीगरों, रेहड़ी-फेरी-पटरी वालों, छोटे दुकानदारों, छोटे व्यापारियों, किसानों, मछुआरों, पशु-पालकों, मालियों, मल्लाहों, संगठित क्षेत्र के मजदूरों, सरकारी-गैर-सरकारी चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों, बेरोजगार युवाओं - जो देश की कुल आबादी का 80-85 प्रतिशत होंगे - के ऊपर आया था, या आबादी के अल्पांश राजनीतिक-बौद्धिक-प्रशासनिक-व्यापारिक-उच्च पेशेवर/सेलेब्रेटी इलीट के ऊपर आया था?

कोई यह भी नहीं बताता कि उदारीकरण के बाद आए पांचवें, छठे और सातवें वेतन आयोगों में किसका आर्थिक सशक्तिकरण हुआ है? क्या इन वेतन आयोगों के "लाभार्थी" 1991 से लेकर आज तक दिन-रात कोसे जाने वाले कोटा-परमिट राज के भी सबसे बड़े लाभार्थी थे? क्या "समाजवादी भारत" का खून चूसने के बाद उन्होंने अपने और अपनी संततियों के लिए बाजारवादी भारत बनाया था? ताकि वे खुले बाजार में शराबों से लेकर कारों तक के विविध विदेशी ब्रांडों पर बढ़े वेतनमानों से मिलने वाले ऐरियर्स/वेतन-भत्तों की "कमाई" खर्च कर सकें; ताकि ब्लैक में करोड़ों की जमीन-जायदादों की खरीद-फरोख्त कर सकें; अपने बच्चों को विदेशों में महंगी शिक्षा दिला सकें; सरकारी खर्चे पर देश-विदेश की हवाई यात्राएं कर सकें; निजी अस्पतालों के पैनल में शामिल होकर महंगे से महंगा इलाज मुफ़्त में करा सकें . . . । यह सूची जितना चाहो लंबी हो सकती है। इसमें नेताओं, उद्योगपतियों, देशी-विदेशी बड़े बिल्डरों, उच्च पेशेवरों और सेलेब्रेटियों का भोगवादी वैभव जोड़ें तो एक स्मारकीय पुस्तक हो जाएगी।

1991 के पहले गरीब और अमीर भारत की बात होती थी। नई आर्थिक नीतियों के साथ नीचे की तरफ कंगाल और ऊपर की तरफ मालामाल भारत बनाने का फैसला लिया गया। जिन्होंने मिश्रित अर्थव्यवस्था का भरपूर फायदा उठाया था, उन्होंने ही खुली बाजारवादी अर्थव्यवस्था का प्रपंच रचा। वे अमेरिका-यूरोप की उपभोक्तावादी चकाचौंध से वंचित अपने को गरीब मान रहे थे। वे सभी अमेरिका-यूरोप जाकर नहीं बस सकते थे। उन्होंने भारत को ही वैश्विक उपभोक्ता बाजार का अभिन्न अंग बना डालने की ठान ली। और उन्होंने यह बखूबी कर दिखाया। लाखों किसानों की आत्महत्या, करोड़ों लोगों की भुखमरी/कुपोषण/बीमारी/अशिक्षा, करोड़ों लोगों का विस्थापन, करोड़ों लोगों की बेरोजगारी सहित समाज में आपसी घृणा पैदा करने वाली इस विकृत पूंजीवादी व्यवस्था के संचालक और समर्थक बेहिचक यह ज्ञान देते हैं कि आर्थिक विषमता मजबूत अर्थव्यवस्था की कुंजी है। निगम भारत के पैरोकार और खिलाड़ी केवल कर्ज लेकर घी पीने से सुखी हो जाते तब भी गनीमत थी। वे अनंत सुख लूटने की लालसा में जल-जंगल-जमीन और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को बेचने में जुट गए। सरकारें, नेता और नौकरशाह बिचौलिया की भूमिका निभाने लगे। उदारीकृत भारत, शाइनिंग भारत, नया भारत, आर्थिक

शक्ति भारत, महाशक्ति भारत, स्मार्ट भारत, डिजिटल भारत, हिंदू भारत, विश्ववगुरु भारत इन्हीं मालामाल होने वाले लोगों के भारत की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं।

हालांकि, यह भी हो सकता था कि देश की अर्थव्यवस्था के दिवालिया हो जाने की स्थित में देश की स्वतंत्रता, संप्रभुता और स्वावलंबन की रक्षा के लिए कुछ त्याग किया जाता। सादगी, किफायत और श्रम को अपना कर स्वतंत्रता, संप्रभुता और स्वावलंबन की रक्षा की जा सकती थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से स्वतंत्रता पाने के लिए दी गईं भारतीयों की कुर्बानियों के सामने थोड़ा-सा त्याग कोई बड़ी बात नहीं होती। गांधी के देश में इसके लिए अलग से कोई नया पाठ सीखने की जरूरत भी नहीं थी। अगर फैसला खुली बाजारवादी अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ने का ही था तो कम से कम वह प्रक्रिया अपनी शर्तों पर की जा सकती थी। लेकिन चुनाव गुलामी के सुख का किया गया। यह याद रखने की जरूरत है कि 'नए भारत के निर्माता' (आर्किटेक्ट ऑफ न्यू इंडिया) और उनकी टीम ने नवसाम्राज्यवादी संस्थाओं द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजों पर महज हस्ताक्षर किए थे। उन दस्तावेजों की एक पंक्ति भी भारत में नहीं लिखी गई थी। निगम भारत के पैरोकारों द्वारा बहुप्रशंसित भारत-अमेरिका परमाणु करार का भी एक-एक शब्द भारत के बाहर अमेरिका में लिखा गया था।

यहां यह सवाल उठाया जा सकता है कि इस लेख में जब नवउदारवाद की जय-यात्रा की इतिहास-रेखा दी गई है तो नवउदारवाद-विरोध की इतिहास-रेखा भी दी जानी चाहिए थी। नवउदारवाद-विरोध के संघर्ष के बारे में मैंने अनेक जगह अनेक बार लिखा और कहा है। आगे भी ऐसे मौके आते रहेंगे। हालांकि, उस गाथा को फिर से कहना बहुमुंही नवउदारवादियों को और ज्यादा नाराज करना होता है। स्वतंत्रता, संप्रभुता और स्वावलंबन के पक्ष में पूरे देश में आवाजें उठी थीं, और सक्रिय प्रतिरोध भी हुआ था। इसके बावजूद कि संघर्ष और संभावना के पथ पर अनेक अवरोध खड़े किए जाते थे, नवउदारवाद के दो दशकों के दौरान भूमंडलीकरणलवादी ताकतों के खिलाफ एक जबरदस्त संघर्ष जारी रहा। भूमंडलीकरणलवादी ताकतों को चुनौती देने वाले स्वर वैकल्पिक राजनीतिक धाराओं एवं नागरिक समाज में ही नहीं, मुख्यधारा राजनीति के अंतर्गत भी मौजूद बने रहे। भूमंडलीकरणलवाद दरअसल नवसाम्राज्यवाद है, जिसका विरोध नई वैचारिक उद्भावनाओं सहित भारत के स्वतंत्रता आंदोलन और संविधान के मूल्यों की ताकत से किया जाना चाहिए - ऐसा संदेश इस बीच की किशोर और युवा पीढ़ियों की चेतना में भी कुछ न कुछ असर बनाता था। स्वतंत्रता आंदोलन और संविधान के मूल्यों की जीत की संभावना उससे बनती थी। अगर उस संघर्ष को भुला दिया गया है, और उसकी धारा को नई पीढ़ियों को प्रेषित नहीं किया गया है तो यह हमारी समझदारी और जिम्मेदारी में आ चुके खोट का प्रमाण है।

जारी . . . . .

(*समाजवादी आंदोलन से जुड़े लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व शिक्षक और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के पूर्व फ़ेलो हैं।*)